



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(6): 202-204

© 2016 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 16-09-2016

Accepted: 18-10-2016

डॉ० देव निरंजन झा

पूर्व शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार,
भारत

भारतीय संस्कृति में नैतिकता एवं धर्म

डॉ० देव निरंजन झा

सारांश:

भारतीय संस्कृति की धर्म और नैतिक दृष्टि से सबल भूमिका है। जनमानस की चेतना में विद्यमान धर्म, वह धारणा है, जो शाश्वत रूप में चैतन्य है और जिसका कभी पराभव एवं तिरोभाव नहीं होता। धर्म नैतिक दृष्टि का उद्घाटन करता है। नीतिजन्य भाव से उत्पन्न नैतिकता का आशय है, कि जीवन में संयम और नियम के साथ आचार को जीवन्त रखना। अतः धर्म का नैतिकता के साथ इसलिए भी प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाता है, कि वह व्यक्ति को नीतिधारण करने की प्रेरणा देता है। वस्तुतः धर्म यदि आचरण है, तो नैतिकता उसका उपनेत्र है। यह उपनेत्र ही जीवन को संयमित करने की दिशा देता है। कवि मूलतः अपने काव्य संरचनाकाल में धर्म और नैतिक दोनों ही दृष्टियों से सम्बद्ध रहता है। अतः उसका सहज स्वाभाविक चिन्तन धर्म और भी नैतिकतापूर्ण हो जाता है। भारतीय संस्कृति धर्म एवं नैतिकता को लेकर चली है, उसका ध्येय है परमार्थ रूप में मानव का कल्याण। भारतवर्ष विश्वकल्याण की कामना से अभिप्रेत होने के कारण जगद्गुरु के सिंहासन पर अधिरूढ़ हुआ है।

प्रस्तावना:

धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जो हमें कर्तव्य का बोध कराता है, अकरणीय से दूर हटाता है और करणीय की ओर चलने की सदैव प्रेरणा देता है। धर्म हमारा नियंत्रक है, अतः उसे 'यम' की संज्ञा दी गयी है। हमारे भारतीय ग्रन्थों में धर्म द्वारा बैल का और पृथ्वी द्वारा गाय का रूप धारण करने की कथा आती है, जिसका प्रतीकार्थ है, सतयुग में बैल चार चरणों से चलता है, द्वापर में तीन से, त्रेता में दो से एवं कलियुग में सिर्फ एक पाँव से। वर्तमान में धर्म एक चरण से विद्यमान है।^[1] धर्म में काल का प्रवाह भी गतिमान है; जो सनातन काल से चला आ रहा है। अतः धर्म को सनातन कहा गया है।^[2] धर्म जन-जन के हृदय में वास करता है।

यही अन्तर्यात्रा है। उसमें ही सत्य प्रतिष्ठित है— 'धर्मो हि परमो लोके धर्मो सत्यं प्रतिष्ठितम्'।^[3] 'देवता भी उसी में निहित है'।^[4] यज्ञ, कर्मकाण्ड, पूजन, परमसत्ता की खोज, रहस्यानुभव एवं मोक्ष सब उसी के उपादान हैं। धर्म सदाचार भी है तथा वही हमारे नैतिक व्यवहार का नियमन करता है। भक्ति ज्ञान और कर्म भी धर्म है। कल्याणकारी होने के नाते धर्म ही श्रेयस्कर है। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में— 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई'।^[5] अतः मानवता की सेवा भी धर्म है। बुद्ध ने बिम्बसार को दीक्षा देते हुए कहा था— 'धर्म से निर्वेद प्राप्त होता है।' शास्त्रों में धर्म के अन्तर्गत मनुष्य का पूरा आचरण, नैतिक व्यवहार, विश्वास और परम तत्त्व के प्रति आस्था का भाव सब कुछ समाहित हो जाता है। अतः बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—^[6] 'तस्माद् धर्मात् परमं नास्ति।' इसी कारण धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

धर्मशब्द का प्रयोग कर्तव्य, गुण, नियम, न्याय, शील, कर्म आदि कई अर्थों में होता आया है। वैदिक साहित्य में उसका अर्थ धारण करना, सहायता करना अथवा पोषण करना होता है। उपनिषदों में इनका प्रयोग विहित कर्मों के पालन के अर्थ में हुआ है। वैशेषिकसूत्र में धर्म को अभ्युदय और निश्रेयस् का साधन बताया गया है तथा पूर्वमीमांसा में प्रेरणा का। इसके अतिरिक्त कहीं सदाचार, कहीं सत्य तो कहीं अहिंसा को धर्म की संज्ञा दी गई है। शरीररक्षा भी धर्म है। कालिदास की उक्ति— 'शरीरमाद्यं खलु साधनम्' का सर्वोपरि महत्त्व है। अशोक ने 'धम्म' को सामाजिक उत्तरादायित्व की एक ऐसी वृत्ति के रूप में लिया; जिसमें व्यक्ति दूसरे के हित को अत्यधिक महत्त्व देता है। फिर भी धर्म क्या है यह कहना सरल कार्य नहीं है। सत्य की भाँति धर्म का तत्त्व भी गुहा में निहित है। फिर भी 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' की भाँति अधिकांश लोगों के लिए धर्म का अर्थ उन महानुभावों का अनुकरण करना है, जो श्रेष्ठ हैं। परन्तु धर्म व्यक्ति की निजी अनुभव की वस्तु और अनुभूति ही है। सम्प्रदाय उसके सामने छोटे पड़ जाते हैं। हमारे यहाँ एक ही धर्म के अन्तर्गत कई पन्थ एवं मत—मतान्तर समाहित हो जाते हैं तथा उसी के अंग बनकर धर्म के व्यापक स्वरूप का समर्थन करते मिलते हैं।

Corresponding Author:

डॉ० देव निरंजन झा

पूर्व शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार,
भारत

उनकी तुलना में धर्म सम्पूर्ण को धारण करता है। महाभारत में इसी को लेकर 'धर्मो धारयते प्रजाः' कहा गया है। वह उसे एक ऐसी व्यवस्था देता है, जो प्रजा का नियमन ही नहीं करती, अपितु गीता के अनुसार, महान् भय से धर्म व्यक्ति की रक्षा भी करता है। यथा—^[7] 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' धर्म और मनुष्य एक-दूसरे के सम्मिश्रित मधु है—^[8] 'अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्व धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु।' धर्मशब्द हमारी संस्कृति में मुख्यतः तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है— प्रथम सामान्य मानव धर्म जिसकी अभिव्यक्ति नैतिकता और सदाचार के रूप में की जाती है। द्वितीय साम्प्रदायिक धर्म, जिसका संचालन किसी धर्मप्रवर्तक द्वारा चलाये गये धर्म अथवा सम्प्रदाय के नियमों और धर्मग्रन्थों के अनुसार होता है। तृतीय लोकधर्म जिसके अन्तर्गत व्रत, उत्सव, देवी-देवता की पूजा, पशु-पक्षी, वृक्ष, नदी, पर्वत, व्रत तीर्थ, ऋतु उत्सव, रीति रिवाज आदि से सम्बन्धित करणीय कृत्य आते हैं। धर्म के ये सभी रूप मनुष्य की श्रद्धामयी चेतना की देन हैं। श्रद्धा और विश्वास के बिना धर्म की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य के चार पुरुषार्थों में धर्म का स्थान मोक्ष के समान ही महत्वपूर्ण है। मोक्ष तो जीवन का अन्तिम परम फल है तथा धर्म उसका प्रथम साधन है। समस्त सृष्टि धर्म पर ही आधारित है। यहाँ धर्म का अर्थ है—स्वाभाविक नियम। सृष्टि के क्रम का एक स्थिर नियम होता है, वही सृष्टि का धर्म कहलाता है। मानव समाज अथवा लोक को धारण करानेवाले जो तत्त्व या नियम हैं, वे ही मानव धर्म हैं। इस प्रकार समाज बनता रहता है तथा व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध सुदृढ़ होता रहता है, धर्म का यह स्वरूप ही मानव धर्म है, जिसे सामान्य धर्म कहा जाता है। इसकी अभिव्यक्ति नैतिक मूल्यों अथवा सदाचार सम्बन्धी नियमों के रूप में होती है। भारतीय दृष्टि में धर्म का वास्तविक अर्थ यही है।

नैतिकता से अभिप्रायः

नीति से तात्पर्य है— सत्य, हित एवं परिणाम में सुख देने वाली बाते हैं।^[9] नीति या नैतिकता जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। जिस प्रकार देहधारियों की स्थिति बिना भोजन के सुदृढ़ नहीं हो सकती। यथा—^[10]

'सर्वोपजीवकं लोकस्थिति कृन्तीतिशास्त्रकम्।

धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।।'

उसी प्रकार लोक-व्यवहार की स्थिति नीतिशास्त्र के बिना सुदृढ़ नहीं हो सकती। विद्वानों ने नीति के दो पक्ष माने हैं— 'उचित या ठीक रास्ते पर ले चलने की क्रिया या भाव तथा आचार-व्यवहार आदि का वह प्रकार या रूप, जो बिना किसी का अपकार किये या किसी को कष्ट पहुँचाये, अपने लिए भी एवं दूसरों के लिए भी मंगलकारी, शुभ तथा सम्मानजनक हो।' ^[11]

इस प्रकार नीति मानवीय समाज के अभ्युदय का मार्ग दिखाती है। विद्वानों ने नैतिकता के अनेक मानदण्ड बताये हैं। नैतिकता का धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव धर्म या सामान्य धर्म की अभिव्यक्ति ही नैतिक मूल्यों अथवा सदाचार सम्बन्धी नियमों के रूप में होती है, जो मानव की मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है। प्रवृत्तियों में प्रेम, करुणा, उत्साह, क्रोध, भय, घृणा आदि वृत्तियाँ आती हैं। इन्हीं के आधार पर सामाजिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। समाज में रहनेवाले किसी व्यक्ति का कोई भी ऐसा काम नहीं होता, जो दूसरों को किसी न किसी रूप में प्रभावित करे। अतः मनुष्य के वैयक्तिक गुण-दोष भी समाज के लिए हितकर या अहितकर होते हैं। समाज को सुखी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के काम ऐसे हों जो दूसरों पर बुरा एवं हानिकारक प्रभाव न डाले, वरन् अच्छा और हितकारी प्रभाव डालें; तभी समाज सुसंगठित और सुदृढ़ हो सकता है।

इस तरह सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से जो मानवीय आचार विश्व के मानव समाज में समान रूप से प्रचलित हैं, वे ही सामान्य धर्म अथवा मानव धर्म है। व्यक्ति के उस व्यवहार को जो दूसरों पर

अच्छा प्रभाव डालता है, सदाचार कहा जाता है। इस तरह सदाचार ही मानव धर्म है तथा सदाचार के गुणों का दूसरा नाम ही मानव मूल्य है। इन गुणों को नैतिकता भी कहा जा सकता है। ये गुण हैं— सत्य, अहिंसा, करुणा, प्रेम, सेवा, सहकारिता, परोपकार, समदृष्टि, न्यायप्रियता, धैर्य, क्षमा, शौर्य, शौच, अक्रोध, अपरिग्रह, अस्तेय आदि।

भारतीय संस्कृति में इन नैतिक गुणों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। जो व्यक्ति इन नैतिक नियमों का पालन करते हैं, उन्हीं को धार्मिक व्यक्ति कहा जाता है। भारतीय धर्म ग्रन्थों में गुणों को धर्म का प्रमुख अंग माना गया है। इसके विपरीत घृणा, क्रोध, हिंसा, लोभ, अहंकार आदि को कुवृत्ति अथवा पाप का मूल माना गया है। हिन्दू धर्म में धर्म राष्ट्र का व्यवहार मुख्यतया सामान्य धर्म के अर्थ में ही किया गया है। हिन्दुओं के सर्वाधिक मान्य ग्रंथ 'मनुस्मृति' में धर्म का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—^[12]

'धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।'

इस प्रकार मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दस लक्षण हैं— धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। महाभारत में भी सनातन धर्म के सात लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—^[13]

'एष धर्मो महायोगो दानं भूत दया तथा।

ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा।।'

प्रकृत उद्धरण में धर्म के निम्नलिखित सात लक्षण बताये गये हैं— दान, भूत, दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, धृति और क्षमा। भारतीय संस्कृति में शाश्वत् धर्म के लक्षणों की कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं थी। वस्तुतः सदाचार और नैतिकता के सभी मान्य नियमों को भारतीय समाज में धर्म कहा जाता रहा है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि— 'विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।' अर्थात् विद्या, दान, तप और सत्य ये धर्म के चार पाँव हैं। ^[14]

वायु पुराण के अनुसार महर्षि पंतजलि ने योगदर्शन में योगों का वर्णन करते हुए, यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को महाव्रत माना है तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान को नियम की संज्ञा दी है। इस तरह उन्होंने यम और नियम के अन्तर्गत धर्म के निम्नलिखित दस लक्षणों को मान्यता दी है— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, एवं ईश्वर प्राणाधान। ^[15] डॉ. काणे के अनुसार— 'धर्मशास्त्रों के लेखकों का धर्म से अभिप्राय ऐसी जीवनपद्धति अथवा चरित्र संहिता से था, जिसके द्वारा समाज के सदस्य के रूप में तथा व्यक्ति के रूप में मनुष्य की क्रियाओं और व्यक्तित्व का नियंत्रण होता था और जिसका उद्देश्य व्यक्ति का इस तरह क्रमिक विकास करना था कि वह मानवीय अस्तित्व के स्वीकृत लक्ष्य तक पहुँचने में सक्षम हो सके।' ^[16]

नैतिक मूल्य जिनमें सामान्य धर्म या नैतिकता के सभी लक्षण सन्निविष्ट हैं— सत्य, अहिंसा, करुणा, धैर्य, सेवा, इन्द्रिय निग्रह या संयम, अक्रोश, क्षमा, सहिष्णुता, अहंकारहीनता, विनम्रता, निर्लोभत्व, सन्तोष, शौच, विवके एवं समत्व बुद्धि।

निष्कर्षः

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधारण धर्म या सदाचार ही मानव मूल्य या नैतिक मूल्य है। इनका दूसरा नाम ही नैतिकता है। भारतीय धर्म के स्वरूप एवं नैतिकता का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए, पहले यह बताया जा चुका है कि सामान्य धर्म ही मानव धर्म है और उसकी अभिव्यक्ति ही नैतिकता एवं सदाचार के रूप में होता है। भारतीय मनीषियों ने भी सामान्य धर्म को ही वास्तविक धर्म माना है।

यद्यपि प्राचीन भारत में सामान्य धर्म को ही वास्तविक धर्म माना जाता रहा, किन्तु धर्म का बाह्य रूप भी उस समय प्रचलित थे।

जिनका विधि-विधान युग-युग में परिवर्तित होता रहता था। इस बाह्य रूप को ही सम्प्रदाय, मत या पन्थ कहा जाता था। परवर्तीकाल में साम्प्रदायिक धर्म को ही प्रमुखता प्राप्त हो गयी और सामान्य धर्म को धर्म न कहकर केवल नैतिकता कहा जाने लगा। इस साम्प्रदायिक धर्म का स्वरूप भारत के वैदिक काल से लेकर आज तक निरन्तर परिवर्तित होता रहा है और उसके विविध रूपान्तर प्रचलित रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि पूजा-पाठ उपासना विधि, धर्म, ग्रन्थ और धर्म गुरु या आचार्य के आधार पर ही विभिन्न सम्प्रदायों की पृथकता दृष्टिगत होती रही है और धर्म के मूल तत्त्व इस साम्प्रदायिक जंजाल में भुला दिये जाते रहे हैं। सामान्य धर्म के तत्त्व अथवा नैतिक मूल्य ही धर्म के मूलतत्त्व हैं जो सभी सम्प्रदायों में मान्य होते हैं, किन्तु किसी भी सम्प्रदाय के लोग उनकी ओर ध्यान नहीं देते और न व्यावहारिक जीवन में उनके अनुसार आचरण ही करते हैं।

सन्दर्भ-सूची:

1. महाभारत- महाप्रस्थानिक पर्व, पृ.- 433
2. श्रीमद्भगवद् गीता
3. वाल्मीकिरामायण
4. जैमिनी उपनिषद्- 1.14.2
5. रामचरितमानस- 333
6. बृहदारण्यकोपनिषद्- 1.4.14
7. श्रीमद्भगवद्गीता- 2.1.40
8. बृहदारण्यकोपनिषद्- 4.11
9. ब्रह्मवैवर्तपुराण- 115.13
10. शुक्रनीति- 1.2
11. मानक हिन्दी कोश, खण्ड-3 पृ.- 313
12. मनुस्मृति- 6.92
13. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व- 94.31
14. श्रीमद्भगवद्गीता- 3.12-41
15. 'पातंजलयोगदर्शन, साधनापाद- 30-32
16. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड- 2, भाग- 1, पृ.- 2